

## राजनीतिक अखाड़े में न्यायपालिका का क्या काम ?



मोदी सरकार पर लगाए जाने वाले विभिन्न आरोपों में से संस्थाओं का गला घोटना भी एक है। लोकसभा चुनावों में दूसरी बार बहुमत प्राप्त करने के बाद सरकार पर यह भी आरोप लगाया जा रहा है कि उसने संसद को मात्र एक रबर स्टैम्प बना दिया है। हेर-फेर करके मीडिया पर भी अपना प्रभाव जमा रखा है, और सरकार का मनचाहा वर्णन किया जा रहा है। अंततः, उंगलियां न्यायपालिका की स्वायत्तता की ओर भी उठाई जा रही हैं।

पहले दो आरोप तो सामयिक हैं। राज्य सभा में विधेयकों को जिस प्रकार से जल्दबाजी में, बिना पर्याप्त विचार-विमर्श के पारित किया गया, उससे संसद को एक शो-पीस बना दिया गया है। इसी प्रकार, सरकार अक्सर नाराजगी की किसी ताजी घटना को लेकर मीडिया के सामने आती है। शीर्षकों में परिस्थितियां बदलती रहती हैं। किसी भी घटना में बस मीडिया ही मीडिया होता है। इनमें से कुछ सत्ता की समर्थक रहती हैं, और अन्य स्वयं ही विपक्षी भूमिका में आ जाते हैं।

सरकार पर यह गंभीर आरोप है कि उसने न्यायपालिका को भी अपनी मुट्ठी में कर रखा है। भारतीय संविधान ने जब से न्यायिक समीक्षा की पहल की है, तब से कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच स्थितियां तनावपूर्ण रही हैं। यह जवाहरलाल नेहरू जैसे आदर्श प्रजातंत्रवादी के समय भी था। संविधान का पहला संशोधन भी नेहरू के ही सामने आया था।

यह सत्य है कि न्यायपालिका ने, स्वतंत्र रहते हुए कार्यपालिका के पर कतरने के का आनंद उठाया है। हाल ही के दौर में एक मान्यता चल पड़ी है कि न्यायपालिका ही अंतिम सत्ता है, और प्रशासन को चाहिए कि वह न्यायाधीशों को परखता रहे। 2014 के चुनावों के बाद, विपक्ष के कमजोर पड़ने के साथ ही यह धारणा पैठ गई है कि न्यायपालिका एक मध्यस्थ की भूमिका निभा सकता है। इसका कारण न्यायिक सक्रियता से जुड़ते जाना रहा है।

जब संसद में विपक्ष कमजोर पड़ने लगता है, तो वह सरकार पर लगाम लगाने के लिए न्यायपालिका को अपना सहारा समझने लगता है। भारतीय संसदीय प्रक्रिया का अध्ययन बताता है कि राजनीतिक वाद-विवादों को कम करने के लिए संसद तथा न्यायालयों के फैसलों के उदाहरण दिये जाते हैं।

ऐसा केवल भारत में ही नहीं है। वैसे तो ब्रिटेन को संसदीय संप्रभुता के लिए आदर्श माना जाता है। वहाँ राजनीति और कानून का शासन, दोनों ही स्वायत्त परिधि में संचालित होते रहे हैं। कार्यपालिका और संसद के बीच एक प्रकार के संबंध की परंपरा भी रही है। परन्तु अब यूरोप में ब्रेक्जिट को लेकर उत्तेजना का माहौल है। अतः राजनीतिक अखाड़े में न्यायालय के हस्तक्षेप की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता।

प्रधानमंत्री बोरिस जॉनसन ने लगभग तीन सप्ताहों तक संसद का सत्रावसान करते हुए, अपने कार्यकारी विशेषाधिकार का प्रयोग किया था। संसद का सत्रावसान पहली बार नहीं हुआ है। लेकिन कार्यकारी का संसद में बहुमत खो देने का यह पहला उदाहरण रहा है। वह भी तब, जबकि न तो सरकार का कोई विकल्प है, और न ही चुनावों के जल्द होने की संभावना है। इस पूरे प्रकरण में प्रधानमंत्री पर संसद द्वारा की जाने वाली समीक्षा और वाद-विवाद को टालने का आरोप लगाया जा रहा है।

यह मामला न्यायालय में ले जाया गया। परिणाम दो विरोधाभासी निर्णयों के रूप में सामने आया। (1) स्कॉटिश न्यायालय ने कार्यकारिणी के निर्णय को अवैधन करार दिया और (2) इंग्लैंड के उच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि यह राजनीति पर कोई घोषणा करने की क्षमता से परे था। अब यह मामला उच्चतम न्यायालय के समक्ष है।

इस फैसले का कुछ असर होना तय है कि कैसे एक संसदीय लोकतंत्र, कार्यकारी विधायिका और न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र के बीच के संबंध को देखता है। अगर उच्चतम न्यायालय, निर्णय की पुष्टि करता है, तो इसका साफ अर्थ है कि वह राजनीतिक मामलों में एक रैफरी की भूमिका निभाने के लिए अनिच्छुक है। स्कॉटिश निर्णय की पुष्टि करने का अर्थ, न्यायिक पुनर्समीक्षा के द्वारा संसदीय संप्रभुता के सिद्धांत से छेड़छाड़ करना होगा। वास्तव में तो सर्वोच्च न्यायालय अपनी शक्तियों के आधार पर ही निर्णय करेगा।

निःसंदेह, भारत अपने प्रशासनिक मानदंडों के आधार पर कार्य करता रहेगा। परन्तु ब्रिटेन का निर्णय भी भारतीय संसदीय प्रणाली पर प्रभाव डालेगा। ब्रिटेन में भी, यह मुद्दा अंततः लोकप्रिय इच्छा की अभिव्यक्ति द्वारा स्वीकृत ब्रेक्जिट को पलटने के लिए न्यायिक मार्ग खोजने की कोशिश पर केन्द्रित है।

**‘द टाइम्स ऑफ इंडिया’ में प्रकाशित स्वप्न दासगुप्ता के लेख पर आधारित। 22 सितम्बर, 2019**